जयशंकर प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना और भारतीय आधुनिकता

संतोष कुमार[1], §

शोध सारः जयशंकर प्रसाद भारत के इतिहास और मिथक के प्रसंगों के माध्यम से अपने पाठकों को भारत की औपनिवेशिक दासता को समाप्त करने के लिए संघर्ष करने को प्रेरित करते हैं और इस क्रम में प्रकारांतर से भारत की राष्ट्रीय अस्मिता को निर्मित करते हैं। औपनिवेशिक दासता के ख़िलाफ़ जयशंकर प्रसाद का रचनात्मक संघर्ष सिर्फ़ राजनीतिक मुक्ति तक ही सीमित नहीं है। उनका गम्भीर एवं अध्ययनशील रचनात्मक व्यक्तित्व उपनिवेशवाद की वैचारिकी से भी द्वंद्व करता है और भारत को सांस्कृतिक तथा बौद्धिक रूप से भी मुक्त करने का जतन करता है। एक रचनाकार के रूप में प्रसाद की महानता इस बात में निहित है कि वे भारतीय सभ्यता और संस्कृति को आधुनिक बनाने की यूरोपीय परियोजना में अन्तस्थ पश्चिमी मूल्य व्यवस्था और यूरोपीय जीवन दृष्टि के वर्चस्व को पहचान पाते हैं और उसका प्रत्याख्यान करने की कोशिश करते हैं। मानव जीवन को सुखमय और आनंदमय बनाने के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे भारतीय जीवन दृष्टि की महत्ता को रेखांकित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रयास के परिणाम स्वरूप उनकी रचनात्मकता भारतीय आधुनिकता के द्वार खोलती है।

बीज शब्दः उपनिवेशवाद, भारतीय आधुनिकता, भारतीय ज्ञान परंपरा, मानववाद, विश्वमानववाद।

[1] हिंदी विभाग, शहीद भगत सिंह महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय), शेख सराय फेज - II, नई दिल्ली – 110017, भारत।
Email: santosh106@gmail.com
§ Manuscript received: 01-06-2025; accepted: 24-06-2025. Samanjasya, Volume 02, Number 01 © Zakir Husain Delhi College, 2025; all rights reserved.

प्रस्तावना

उन्नीसवीं शती का उत्तरार्ध और बीसवीं शती का पूर्वार्ध भारत में राष्ट्रीय चेतना के उदय का समय था। यंग इंडिया सोसाइटी, अभिनव भारत मंदिर, अनुशीलन समिति, ग़दर पार्टी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, द हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन जैसे संगठनों की सक्रियता बढ़ रही थी और भारत के राजनीतिक-सामाजिक जीवन में इनके बढ़ते प्रभाव को महसूस किया जाने लगा था। काकोरी षड्यंत्र, लाहौर षड्यंत्र, मुजफ्फरपुर षड्यंत्र, चटगांव शस्त्रागार छापा जैसी क्रांतिकारी घटनाएँ भारतीय नौजवानों के मन-मिजाज में राष्ट्रवादी भावनाओं के उभार का परिचय दे रहीं थीं। स्वदेशी आंदोलन का बढ़ता असर और लाल-बाल-पाल जैसे ओजस्वी स्वतंत्रता सेनानी भारत में उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ उठते राष्ट्रवादी ज्वार को नई दिशा दे रहे थे। राजनीतिक-सामाजिक जीवन में उठते राष्ट्रवादी ज्वार से हिंदी साहित्य भी अछूता नहीं रह सका। भारतेंदु और द्विवेदी युग की रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना की इस नवीन लहर की स्पष्ट पहचान की जा सकती है — हिंदी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने किया भी है। हिंदी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने इस नवीन राष्ट्रीय चेतना और समाज सुधार की लहर को नवजागरण के नाम से अभिहित किया है। इस दौर का विश्लेषण करते हुए प्रसाद के अध्येता प्रेम शंकर लिखते हैं: "बीसवीं शताब्दी में जातीय भावना का स्थान राष्ट्रीयता ने ग्रहण किया। भारत की कल्पना माँ के रूप में दृढ़ हुई। राष्ट्रीय प्रेरणा के लिए कवि अपने प्राचीन आदर्शों को पुनः सम्मुख लाने का प्रयास करने लगे। उन्हें यदि वीरता की प्रेरणा इतिहास- पुरुषों से मिलती, तो जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए राम और कृष्ण का आदर्श आकृष्ट करता। इसी पृथ्वी पर अपनी समस्याओं का समाधान करने की इच्छा से उसने ईश्वर को भी देश में बुला लिया; देवत्व का मानवीकरण हो गया। बढ़ती हुई देश प्रेम की भावना में समस्त कवि समाज ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार योग दिया।" (प्रेमशंकर, 1994, पृ. 18) अतीत के गौरव गान के माध्यम से दमित भारतीय समाज में राष्ट्रीय चेतना और गौरव बोध का संचार करना और सामाजिक-सांस्कृतिक रूढ़ियों के ख़िलाफ़ अभियान चलाकर भारतीय समाज का सुदृढ़ीकरण करना औपनिवेशिक दासता के ख़िलाफ़ चलने वाले संघर्ष के मोर्चे थे। भारत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक नगरी काशी भी इस सामाजिक-सांस्कृतिक आलोड़न का एक केंद्र थी। हिंदी नवजागरण के अग्रदूत समझे जाने वाले भारतेंदु इसी काशी नगरी में अपना भारतेंदु मंडल चला रहे थे। नागरी प्रचारिणी सभा की गतिविधियों का केंद्र भी यही काशी नगरी थी। श्याम सुंदर दास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी इसी काशी नगरी के काशी हिंदू विश्वविद्यालय में बैठकर इतिहास और आलोचना को नई दिशा दे रहे थे। ऐसे ज्ञान संपन्न और सांस्कृतिक विरासत वाली संस्कृति संपन्न नगरी में जयशंकर प्रसाद का 'कलाधर' अपनी तरुणाई की वेला में मन को आलोड़ित करने वाले नए विचारों और नई गतिविधियों से अछूता नहीं रह सका। अतीत के माध्यम से गौरव बोध को जागृत करना और सामाजिक-सांस्कृतिक रूढ़ियों पर प्रहार करके राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करना उनके रचनात्मक मानस के स्थाई हिस्सा बन गए — यही उनकी राष्ट्रीय चेतना को समझने के मूल सूत्र हैं।

अतीत के आईने में वर्तमान

अरुण करुण बिम्ब
वह निर्धूम भस्म रहित ज्वलन पिंड !
विकल विवर्तनों से
विरल प्रवर्तनों से
श्रमित नमित सा—
पश्चिम के व्योम में है आज निरवलंब सा।
(प्रसाद, 2010, ग्रंथावली-4, पृ. 379)

'पशोला की प्रतिध्वनि' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ महाराणा प्रताप के अवसान के बाद चित्तौड़गढ़ के स्वाभिमान और स्वतंत्रता के सूर्य के अस्त होते जाने का करुण चित्र अंकित कर रही हैं। सुयोग्य उत्तराधिकारी के अभाव में कभी अग्नि की तरह तपने वाला चित्तौड़ का शौर्य अब निर्धूम होकर बुझ चुका है। चित्तौड़गढ़ की व्यथा और विवशता को व्यक्त करने वाला अतीत के क्रोड़ से निःसृत यह काव्य चित्र तत्कालीन भारत की की व्यथा-कथा को भी व्यंजित कर रहा है। परतंत्र भारत के शौर्य और स्वाभिमान का सूर्य भी सैकड़ों वर्षों की औपनिवेशिक दासता की चक्की में पीसकर श्रमित, नमित और निरवलंबित होकर पश्चिम के आकाश में डूबने के कगार पर पहुंच चुका था। हताशा और निराशा के इस रौरव अन्धकार में तलाश थी एक ऐसे नायक की जो अपने परिश्रम और पराक्रम से भारतवर्ष की खेवा को अंधड़ भरे गहन अंधकार से सफलता पूर्वक निकाल सके। प्रसाद ऐसे नायकत्व के लिए भारतवर्ष के युवाओं को चुनौती देते हैं :

अरावली श्रृंग -सा समुन्नत सिर किसका ?
बोलो, कोई बोलो— अरे क्या तुम सब मृत हो ?
आह, इस खेवा की ! -
कौन थामता है पतवार ऐसे अंधड़ में,
अंधकार-पारावार गहन नियति -सा—
उमड़ रहा है ज्योति- रेखा-हीन क्षुब्ध हो !
खींच ले चला है—
काल-धीवर अनंत में,
साँस, सफरी सी अटकी है किसी आशा में।
(प्रसाद, 2010, ग्रंथावली-4, पृ. 380)

कवि इन पंक्तियों के माध्यम से ललकार रहा है कि जिसका सिर अरावली की चोटी की तरह सम्मुनत है, जो अपनी हड्डियों को पीस कर, अपनी अस्थि-मांस की दुर्बलता को दूर कर वज्र जैसा बन सके वो आगे बढ़कर इस डूबती हुई खेवा का उद्धार करे। प्रसाद के आलोचक सत्यप्रकाश मिश्र इस ललकार में छुपे जागरण को रेखांकित करते हुए कहते हैं — "कवि जगाना चाहता है—प्राण संचार करना

चाहता है सोए हुए या मरे हुओं के शरीर में। वह वर्तमान मेवाड़ या देश की अतीत के मेवाड़—राणा के मेवाड़ की तुलना में माया के समान पड़ा हुआ मानता है। एक प्रकार से 'जागो फिर एक बार' की तरह इसे 'शक्ति साधना' की कविता कहा जा सकता है।" (मिश्र, 2002, पृ. 12) एक हतदर्प राष्ट्र के पराजित मन में प्राणों का नव संचार करने के लिए शक्ति-साधना की आवश्यकता होती ही है। जयशंकर प्रसाद का रचनात्मक मानस राजनीतिक-सामाजिक पराजय के परिणामस्वरूप धर्म और अध्यात्म की शरण में नहीं जाता। वह पराजय को जय में बदलने के लिए इतिहास की साधना करता है। प्रसाद इतिहास और अतीत के उत्खनन से नए नायकों की तलाश करते हैं जो परतंत्र भारत के युवाओं को उनके विगत शौर्य की याद दिला सके और परतंत्रता के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए प्रेरित कर सके। विदेशी आक्रांताओं से अपने राष्ट्र की सुरक्षा का जतन करने वाले चंद्रगुप्त मौर्य, चाणक्य, अलका, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, ध्रुवस्वामिनी आदि ऐसे ही नायक/नायिकाएँ हैं जो तत्कालीन भारत के युवाओं को प्रकारांतर से अंग्रेजों की दासता से लड़ने के लिए प्रेरित करते हैं। जयशंकर प्रसाद के सहवर्तियों ने उनके अतीत प्रेम के कारण उनको बाबा आदम के ज़माने के चरित्रों के माध्यम से गड़े मुर्दे उखाड़ने वाला कहा है। इसी कारण से उनके आलोचकों ने भी उनको पलायनवादी और पुनरुत्थानवादी कहने से गुरेज़ नहीं किया। यहाँ मैं स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ कि जयशंकर प्रसाद अतीतजीवी नहीं है। अतीत का वर्णन करते हुए उनका ध्यान वर्तमान की समस्याओं से हटता नहीं है। वे वर्तमान की चुनौतियों को अतीत के आवरण में प्रस्तुत करते हैं और अतीत के माध्यम से ही उनका समाधान करने का प्रयत्न करते हैं। इस बात को रमेशचंद्र शाह के शब्दों में कहें तो "अतीत और वर्तमान दोनों का प्रखर संवेदनात्मक ज्ञान उन्हें था और दोनों के बीच जो खाई मुँह बाये थी — उसके प्रति भी वे बेहद जागरूक थे। अतीत का अवगाहन उन्होने इसलिए नहीं किया था कि अतीत के मापदंडों से वर्तमान की पिटाई करें — जैसा कि एलियट ने उन्हीं के समय में किया। उनकी प्रेरणा दूसरी थी — वह एक तरह का समुद्र मंथन था — मानव जाति के सामूहिक अनुभव का और उन्होंने वह इसलिए किया कि जो कुछ भी वे इस समुद्र मंथन से निकाल कर लाएंगे वह मनुष्य के वर्तमान और भविष्य के लिए मूल्य मूल्यवान होगा और उन्हें भी एक आधुनिक मानवनिष्ठ बौद्धिक की हैसियत से आज के हिन्दुस्तान और आज की विकट दुनिया में अपनी सही भूमिका निभाने की सामर्थ्य देगा।" (शाह, 1979, पृ. 72) यह उद्धरण इस बात का जवाब है कि जयशंकर प्रसाद न तो बाबा आदम के ज़माने के चरित्रों के माध्यम से गड़े मुर्दे उखाड़ रहे थे और न ही पलायनवादी और पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों के प्रभावित थे। वे वर्तमान की समस्याओं से निपटने के लिए अतीत का इस्तेमाल अवश्य करते हैं। वर्तमान को इतिहास से सीखने के लिए प्रेरित करते हैं। विविधता से भरे इस देश को उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए एकजूट करना —एक राष्ट्रीय अस्मिता निर्मित करना—उस ज़माने में एक बहुत बड़ी समस्या थी। प्रसाद इस राष्ट्रीय अस्मिता को निर्मित करने के लिए इतिहास का सहारा लेते हैं। उनके नाटक 'चंद्रगुप्त' में चाणक्य अपने शिष्यों को संबोधित करते हुए करता है: "तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परंतु आत्मसम्मान इतने से संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी

विजेता से पददलित होंगे?" (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-1, पृ. 624) परतंत्रता से संघर्ष करने के लिए क्षेत्रीय और सामाजिक विविधता एवं विषमता से भरे इस देश को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में पिरोना आसान नहीं था। छोटी और संकीर्ण मनोवृत्तियाँ राष्ट्रीय अस्मिता के विकास में सबसे बड़ी बाधा थीं। इसलिए चाणक्य अपने शिष्यों से आह्वान करता है कि वे संकट के समय में आर्यावर्त नामक राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अपनी क्षेत्रीय और सामाजिक संकीर्णता को छोड़कर एकता के सूत्र में बँध जाएँ। यह रेखांकित करना आवश्यक है कि चाणक्य के इस कथन के माध्यम से प्रसाद भारतवर्ष के तत्कालीन वर्तमान के साथ-साथ भविष्य को भी संबोधित कर रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्षों बाद भी सामाजिक और क्षेत्रीय अस्मिताएँ भारत की आत्मा में नासूर की तरह टीस रही हैं और राष्ट्रीय एकता को खोखला कर रही है। उपरोक्त उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि वर्तमान की समस्याओं का सामना करने के लिए अतीत का विवेकपूर्ण और रचनात्मक उपयोग करने वाले जयशंकर प्रसाद के विचार आज भी भारत की एकता और अखंडता को अक्षुण्ण रखने के लिए उपयोगी हैं।

मार्क्सवादी हलकों में जयशंकर प्रसाद को पुनरुत्थानवादी समझा जाता है। यदि जयशंकर प्रसाद सचमुच में पुनरुत्थानवादी होते तो उनके रचना संसार में स्त्री पात्रों की ऐसी महनीय भूमिका नहीं होती। उनके रचना संसार में स्त्रियां अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की मालकिन हैं। वे पुरुषों पर निर्भर नहीं हैं। उनका व्यक्तित्व स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और देशभक्ति के मूल्यों से संचालित होता है। उनके नाटक 'चंद्रगुप्त' की अलका के स्वतंत्र व्यक्तित्व को भला कौन भूल सकता है जो अपने राष्ट्र की सुरक्षा के लिए वह अपने भाई आम्भिक के ख़िलाफ़ विद्रोह कर देती है। कोई 'आज़ादशत्रु' की मल्लिका के त्याग से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता जिसे कर्तव्य पथ पर अपने पति का बलिदान मंज़ूर है लेकिन राष्ट्रद्रोह नहीं। वह महामाया को संबोधित करते हुए कहती है : "रानी! बस करो! मैं प्राणनाथ को अपने कर्तव्य से च्युत नहीं करा सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुंब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा — जब तक कि स्वयं राजा, राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाए।" (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-1, पृष्ठ, 243) उसी नाटक में वासवी के उज्ज्वल चरित्र को कैसे नज़रअंदाज़ किया जा सकता है जो अपने परिवार की सुख शांति को अक्षुण्ण रखने के लिए हर तरीक़े का त्याग करने को तैयार है। उनके महाकाव्य 'कामायनी' की श्रद्धा और इड़ा मनु को प्रेरित करने वाली शक्तियाँ हैं। उनकी प्रेरणा और सलाह से ही मनु उद्योगरत होकर अपने जीवन में उपलब्धियां हासिल करता है और जब भी उनकी उपेक्षा करता है तो जीवन का रण हार जाता है — दर दर भटकने को मजबूर हो जाता है। प्रसाद की नज़र में स्त्री पुरुष की सेवा-सुश्रुषा करने वाली दासी नहीं है न ही वह पुरुष के लिए मनोरंजन और मनबहलाव की साधन मात्र है। वह पुरुष को सन्मार्ग और प्रगति के पथ पर अग्रसर करने वाली प्रेरणादायी शक्ति है जिसके अभाव में पुरुष पशुता और निकृष्टता की ओर उन्मुख हो जाता है। स्त्री के ऐसे प्रेरक और स्वतंत्र व्यक्तित्व की परिकल्पना करना आधुनिकता और प्रगतिशीलता का लक्षण है पुनरुत्थानवाद का नहीं। जयशंकर प्रसाद स्त्री की सत्ता को पुरुष की सत्ता से महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि " ... प्रसाद की नज़र में स्त्री ही इस संसार और तथा कथित सभ्यता की संजीवनी और आशा है क्योंकि सृष्टि और मानव मन के भीतर जो देवी और आसुरी शक्तियां संघर्षरत

हैं उनके संतुलन का सूत्र और रहस्य स्त्री के पास है पुरुष के पास नहीं।" (शाह, 1979 पृ. 79) भारतीय दर्शन और संस्कृति के अध्येता होने के कारण प्रसाद स्त्री को भोगवादी और पुरुषवादी दृष्टिकोण से नहीं देखते और सृष्टि के विकास में उसकी रचनात्मक भूमिका को रेखांकित करते हैं। यह उद्धरण और उपरोक्त विश्लेषण इस बात को साबित करते हैं कि जयशंकर प्रसाद को पुनरुत्थानवादी कहना उनके साथ अन्याय करना है।

भारतीय आधुनिकता

उपनिवेशवाद यूरोप के व्यापारियों और उनकी सैन्य सत्ता मात्र की विजय नहीं थी। यह वास्तव में उन बुद्धिजीवियों की भी विजय थी जिन्होंने उपनिवेशवाद के समर्थन में तर्क गढ़कर उसे स्थाई बनाने का जतन किया था। वे औपनिवेशिक हिंसा और आर्थिक संसाधनों के लूट को छुपाने के लिए आधुनिकता और सभ्यता का विमर्श लेकर सामने आए। उनका दावा था कि वे सभ्यता के शिखर पर पहुँचे हुए लोग हैं और उपनिवेशवाद असभ्य उपनिवेशितों को सभ्यता सिखाने और आधुनिक बनाने की प्रक्रिया का एक हिस्सा है। अपने नैरेटिव निर्माण की शक्ति के कारण वे उपनिवेशितों को यह समझाने में सफल हो गए थे कि उपनिवेशवाद से उनका भला हो रहा है। आशिस नंदी इस पूरी परियोजना का ख़ुलासा करते हुए लिखते हैं : "अंग्रेज़ी राज मानता था कि भारतवासी प्रच्छन्न रूप से असभ्य हैं और उन्हें ख़ुद को कुछ और सभ्य बनाना पड़ेगा। दूसरी तरफ़ अंग्रेजों को दोस्त समझने वाले हों या दुश्मन, बहुत से भारतीय भी ख़ुद को उन्हें जैसा बना लेने में ही अपनी मुक्ति देखते थे। अंग्रेजों के पास एक युद्धप्रिय नस्ल की विचारधारा थी जिसकी कसौटियों पर फ़िट होने के लिए पौरुष के अतिरेक, प्रकट साहस और बेइंतहा वफ़ादारी का प्रदर्शन एक शर्त थी। इसे पूरा करने के लिए तैयार कई भारतीय जातियाँ और उप-संस्कृतियां ब्रिटिश मध्यवर्ग में प्रचलित सेक्शुअल स्टीरियोटाइपों की नक़ल करने लगी थीं।" (नंदी, 2019, पृ. 25) इसीलिए सभ्य और आधुनिक बनाने की इस तथाकथित परियोजना का समर्थन बुद्धिजीवियों के एक बड़े वर्ग ने किया था। उपनिवेशवाद का विरोध करने के लिए यह ज़रूरी था कि उपनिवेशवाद के बौद्धिक विमर्श और उनके बुद्धिजीवियों को चुनौती दिया जाए — आधुनिकता के बहाने पश्चिमीकरण करने के षड्यंत्र का भंडाफोड़ किया जाए। जयशंकर प्रसाद उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष को गहराई प्रदान करते हुए उसे दार्शनिक और वैचारिक मोर्चे तक ले जाने में सफल होते हैं। अपने इस संघर्ष का संकेत वे चन्द्रगुप्त नाटक में करते हैं जहाँ कार्नेलिया करती है "सिकंदर ने भारत से युद्ध किया है और मैंने भारत का अध्ययन किया है। मैं देखती हूँ कि यह युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं, इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़ रही हैं। यह अरस्तु और चाणक्य की चोट है, सिकंदर और चंद्रगुप्त तो उनके अस्त्र हैं।" (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-1, पृष्ठ 687) चंद्रगुप्त और सिकंदर का संघर्ष महज दो योद्धाओं का युद्ध नहीं है। यह चाणक्य और अरस्तु नामधारी दो बौद्धिकों का संघर्ष है जो क्रमशः भारतीय और पश्चिमी जीवन दृष्टियों के प्रतिनिधि हैं। इतिहास, संस्कृति और दर्शन के प्रसाद जैसे गहरे अध्येता के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह विचारों के सूक्ष्म स्तर पर उपनिवेशवाद को रचनात्मक चुनौती पेश करे। पश्चिम के साथ प्रसाद के

वैचारिक संघर्ष को समझने के लिए प्रसाद की लेखनी से निःसृत आधुनिक युग के महानतम महाकाव्य कामायनी का अवगाहन करना होगा जिससे हमारे आलेख का दूसरा हिस्सा निर्मित होता है।

पश्चिम में आधुनिकता की पैदाइश ने व्यक्ति के मानस जगत में स्थाई परिवर्तन ला दिया। तर्क और बुद्धि की प्रधानता प्रमुख हो गई। आधुनिक होने के लिए तार्किकता आवश्यक शर्त बन गई। आधुनिक मनुष्य के लिए भावनाओं की कोई अहमियत नहीं रह गई। भावुकता को अक्सर परिवर्तन विरोधी और पिछड़ेपन का प्रतीक समझा जाने लगा। छायावाद के सन्दर्भ में आधुनिक हिंदी आलोचना भी गलदश्रु भावुकता का जैसे व्यंग्यात्मक पद का प्रयोग करती ही है। ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि पश्चिमी आधुनिकता हृदय और बुद्धि को दो परस्पर विरोधी कोटियों के रूप में स्थापित कर दे। उसने ऐसा किया भी लेकिन ऐसा करते हुए वह भूल गई कि हृदय में भावों की प्रबलता हमें संवेदनशील बनाती है। करुणा की भावना हमें परहित के प्रति संवेदनशील बना कर हमारी मनुष्यता का प्रसार करती है। बुद्धि की प्रधानता मनुष्य को चिंतन करने की तरफ़ प्रेरित करती है। बौद्धिकता हमें भौतिक सफलता और समृद्धि की ओर ले जाती है लेकिन वह हमारे अंतर्जगत के सूनेपन को दूर नहीं कर सकती है। बौद्धिकता के सहारे भौतिक समृद्धि अर्जित करने वाले पश्चिम की सबसे बड़ी समस्या यही है की उसका अंतर्जगत संघर्ष और हिंसा करते-करते खोखला हो चुका है। यही समस्या कामायनी के मनु की भी है जो इड़ा के सानिध्य में भौतिक समृद्धि तो हासिल कर लेता है लेकिन उसका अंतर्जगत अशांत और अतृप्त ही बना रहता है और अंततः इसका परिणाम बहुत भयानक होता है। भौतिक समृद्धि से आंतरिक जगत की शांति नहीं बढ़ती है। मनुष्य के जीवन को आनंदमय बनाने के लिए भौतिक समृद्धि के साथ साथ आंतरिक समृद्धि की भी आवश्यकता होती है। आंतरिक समृद्धि के लिए हृदय पक्ष को महत्व देना आवश्यक है। हृदय में उठने वाले भाव महत्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि मनुष्य जीवन को दिशा देने में उनकी भी भूमिका होती है। भावनाओं के अभाव में बौद्धिक चिन्तन कई बार मनुष्य को स्वार्थी और निष्ठुर बना देता है। भारतीय चिंतन में हृदय और बुद्धि में सामंजस्य की परिकल्पना की गई है यानी मनुष्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए चिंतन और संवेदनशीलता दोनों की ज़रूरत है। भारतीय दर्शन में 'भावनामयी प्रज्ञा' की बात की गई है यानी चिंतन और संवेदनशीलता का मणिकांचन संयोग।नई कविता के कवि मुक्तिबोध ने इसी बात को अपने ख़ास काव्यात्मक मुहावरे में 'ज्ञानात्मक संवेदना' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' कहा था। इस संदर्भ में इन काव्यात्मक मुहावरों का विश्लेषण हिंदी आलोचना ने अभी तक नहीं किया है। मुक्तिबोध से पहले छायावाद का पुरस्कर्ता इस समस्या से जूझ चुका था। जयशंकर प्रसाद ने हृदय और बुद्धि के सामंजस्य को बहुत महत्वपूर्ण माना है। वे हृदय और बुद्धि में सौहार्द्रपूर्ण संतुलन को मानव जीवन के शांतिपूर्ण विकास के लिए आवश्यक मानते हैं। उनका रचना संसार संतुलन के इस आग्रह से भरा पड़ा है। उनके नाटक आज़ातशत्रु की स्त्री पात्र वासवी अपने एक गीत में इस सामंजस्य की ओर संकेत करती है :

दाता सुमति दीजिये
मानव-हृदय-भूमि करुणा से सींचकर
बोधन-विवेक-बीज अंकुरित कीजिए

दाता सुमति दीजिए (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-1, पृष्ठ 251)

सुमति तभी संभव है जब हृदय और बुद्धि का सामंजस्य हो। कवि अपने आराध्य से मानव हृदय रूपी भूमि में अंतस्थ करुणा के जल से सींच कर विवेक का बीज अंकुरित करने की प्रार्थना करता है। मानव जीवन में विवेक तभी कल्याणकारी हो सकता है जब वह हृदय में पैठे करुणा से सिक्त हो गया हो। करुणा की भावना के प्रति प्रसाद का यह आकर्षण उन पर बौद्ध दर्शन के प्रभाव का प्रमाण है। उनके काव्य 'लहर' की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी हृदय और बुद्धि के सामंजस्य और समरसता की अभिव्यक्ति करती हैं :

तुम्हारे कुंजों में तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद ।
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के सपनों के संवाद।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ, परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार ?
(प्रसाद, 2002, लहर, पृष्ठ 24)

मानव जीवन के विविध पक्षों के बीच सामंजस्य और समरसता स्थापित कर मनुष्य को पूर्ण रूप से सुखी बनाने की दृष्टि प्रसाद को शैव दर्शन से मिली है। वे शैव दर्शन से मिली इस जीवन दृष्टि का काव्यात्मक अनुवाद भर नहीं करते बल्कि अपने काव्य में समरसता के दर्शन का विस्तार करते हैं। प्रसाद काव्य के प्रसिद्ध अध्येता प्रेमशंकर इस बात को रेखांकित करते हैं: "शैव दर्शन से प्रभावित होते हुए भी कमायनी की समरसता अधिक व्यवहारिक है। उसमें केवल धार्मिक, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक पक्ष का ही ग्रहण नहीं; वह जीवन की कुछ समस्याओं का समाहार कर लेती है। अंत में समस्त विरोधी शक्तियां समन्वित होकर कार्य में नियोजित होती हैं। संघर्ष का अंत होता है, भेदभाव समाप्त हो जाते है। प्रसाद की समरसता-कल्पना पर्याप्त व्यापक है। उसमें व्यक्ति के अंतरतम से लेकर विश्व तक के संघर्ष को समाप्त करने का प्रयास है।" (प्रेमशंकर, 1994, पृ. 258) प्रेमशंकर की बात बिलकुल सही है। जब व्यक्ति का अंतरतम प्रशांति से भरा होगा तभी वह करुणा से सिक्त होगा और तभी वह विश्व के संघर्ष को समाप्त करने के लिए प्रस्तुत हो सकेगा। करुणा से सिक्त हृदय और विचारशील मस्तिष्क मनुष्य को निःस्वार्थ कर्म की ओर प्रेरित करता है जिसे गीता में भगवान कृष्ण ने निष्काम कर्म कहा है। करुण हृदय मनुष्य को स्वार्थ के अवगुंठनों से निकालकर परमार्थ की ओर ले जाता है। प्रसाद अपने नाटक चंद्रगुप्त में सिंहरण के माध्यम से इस बात को रेखांकित करते हैं "मित्र आम्भिक ! मनुष्य साधारण धर्मा पशु है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और निस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है।" (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-1, पृ. 721) इसी जीवन दृष्टि और परहित के लिए कर्म करने के कारण भारतीय सभ्यता में मनुष्य देवत्व की उच्च कोटि तक पहुँच पाता है। अनायास नहीं है कि भारतीय जीवन पद्धति जीते जागते मनुष्यों को देवता मानकर उनकी पूजा अर्चना करती रही है। आंतरिक जगत में समरसता और सामंजस्य की स्थिति मनुष्य को निस्वार्थ कर्म करने की प्रेरणा देता है। निस्वार्थ कर्म करने से बाह्य जगत के द्वैत, संघर्ष और विरोध अपने आप समाप्त होने लगते हैं। जब मनुष्य के जीवन में आंतरिक और बाह्य जगत के द्वंद्व, संघर्ष और विरोध समाप्त होने

लगते हैं तो जीवन आनंदमय होने लगता है। मनुष्य का जीवन कल्याणमय हो जाता है। शैव दर्शन में इस भावमूलक जीवन-स्थिति को शिव में लीन होना कहते हैं। कामायनी का अंतिम सर्ग इस अद्वैतवादी आनंद के महत्व को प्रतिपादित करने का प्रयास है जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

समरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड गाना था। (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-4, पृ. 704)

जब मानव मन में संघर्ष और विरोध समाप्त हो जाते हैं और उसका आंतरिक जीवन समरसता और सामंजस्य से भर जाता है तब उसकी चेतना आनंद की अनुभूति करती है। वह आनंद अलौकिक और अखंड होता है। भारतीय परंपरा में अखंड आनंद में स्थित होने को मुक्ति की अवस्था कहा जाता है। निर्वाण और ब्रह्म की प्राप्ति करना कहा जाता है जो मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य है और इस लक्ष्य को जीते जी भी हासिल किया जा सकता है।

तर्कबुद्धि जनित पश्चिमी आधुनिकता ने मानववाद नामक विचारधारा का प्रतिपादन किया जिसमें सृष्टि के केन्द्र में है मनुष्य को रखा गया है। यानी सृष्टि के समूचे संसाधनों और मानवेत्तर प्राणियों की सार्थकता मनुष्य के हितों की पूर्ति करने में है। मानव जीवन के विकास और प्रगति के लिए मानवेत्तर का उपयोग कर लेने को उचित समझा जाने लगा। मानव अकेले ही इस सृष्टि के संसाधनों का स्वामी बन गया और मानवेत्तर प्राणी किसी भी तरह के अधिकार से वंचित कर दिए गए। आधुनिकता की इस धारणा से मानव जीवन को तो अभूतपूर्व महत्ता प्राप्त हुई लेकिन मानवेत्तर की सत्ता संकट में पड़ गई। उपनिवेशवाद के प्रसार के दौर में मानववाद का यह औपनैवेशिक चिंतन सम्पूर्ण भूमंडल में स्वीकार कर लिया गया और इसका परिणाम प्रकृति तथा मानवेत्तर प्राणियों के लिए बहुत भयानक हुआ। जयशंकर प्रसाद का काव्य मानस मानववादी चिंतन के दुष्परिणामों के प्रति सचेत है। कामायनी में श्रद्धा मनु इस जीवन दृष्टि के फलितार्थों के प्रति को सचेत करते हुए कहती है:

यह जो प्राणी बचे हुए हैं
इस अचला जगती के;
उनके कुछ अधिकार नहीं।
क्या वे सब ही हैं फीके !

मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हन्त ! बची क्या शवता ! (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-4, पृ. 539-540)

आकुली और किरात जैसे दानवों के बहकाने के कारण मनु मानवेत्तर प्राणियों को अपने सुख का साधन और उपभोग की वस्तु समझने लगता है। श्रद्धा उसको समझाती है कि सृष्टि के मानवेत्तर प्राणी

मनुष्य के सुख को बढ़ाने वाले साधन नहीं हैं। इस सृष्टि के कार्य व्यापार को चलाने में उनकी भी एक निश्चित भूमिका है और इस भूमंडल पर उनका भी उतना ही अधिकार है जितना मनुष्यों का। मनुष्य अपनी साधन सम्पन्नता और विज्ञान से मिली शक्ति के बल पर उनको उनके अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता हैं। श्रद्धा के ये विचार भारतीय परंपरा के वसुधैव कुटुम्बकम की भावना के अनुरूप है जहाँ सिर्फ़ मानव ही नहीं बल्कि समूची वसुधा को ही अपना परिवार समझा जाता है। अपनी इसी मूल्य परंपरा के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पश्चिमी मानववाद के मुक़ाबले में मानवतावाद जैसे वैचारिक प्रत्यय का प्रतिपादन किया था। मानववाद सिर्फ़ मनुष्यों के हित तक सीमित है जबकि मानवतावाद के विचार में सम्पूर्ण सृष्टि के हित के बारे में सोचना मनुष्यों की जिम्मेदारी है। जयशंकर प्रसाद श्रद्धा के मध्यम से मानवतावाद की न्याय मूलक भारतीय दृष्टि को रेखांकित करने चाहते हैं। मानवतावाद का यह विचार सिर्फ़ इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इसमें सबके हित की शुभाकांक्षा की भावना निहित है। श्रद्धा संवेदनशील होने के साथ साथ बौद्धिक भी है और मानवीय व्यवहार की पारखी भी। वह जानती है कि दरअसल मानव का हित भी तभी तक सुरक्षित है जब तक वह मानवेत्तर की सुरक्षा करने में सफल रहता है। परस्पर निर्भरता प्रकृति का नियम है। दूसरे को दुखी करके कोई सुखी नहीं हो सकता है। श्रद्धा मनु को सचेत करती है —

सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे;
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे। (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-4, पृष्ठ 543)

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा ! (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-4, पृष्ठ 542)

दूसरों को दुखी बना कर सारे सुखों को सिर्फ़ अपने लिए संचित करने की प्रवृत्ति अंततः अपने जीवन को दुखी बनाने का ही मूर्खतापूर्ण प्रयत्न है। यह एक तरह की दानवी वृत्ति है जो पश्चिमी आधुनिकता के मानववादी चिंतन का परिणाम है। प्रसाद श्रद्धा के माध्यम से पश्चिम के मानववादी जीवन दृष्टि को चुनौती पेश करते है। यह रेखांकित करना भी आवश्यक है कि उनके इन विचारों से व्यक्तिवाद, सुखवाद और उपभोक्तावाद जैसे विचार सारणियों का खंडन होता है। जयशंकर प्रसाद के विचार में अपना सुख और आनंद दूसरों के सुख और आनंद में निहित है — दोनों अन्योन्याश्रित हैं। तभी वे कहते हैं —

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ है। (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-4, पृ. 542)

इसी भारतीय जीवन दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में प्रसाद विश्वमानववाद के सिद्धांत की परिकल्पना करते हैं। उनके नाटक अजातशत्रु में वासवी कहती है "भगवन ! क्या कभी वह दिन भी आवेगा, जब विश्वभर में एक कुटुंब स्थापित हो जाएगा, और मानव मात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी संभालेंगे" ? (प्रसाद, 1956, पृ. 132) भारतीय जीवन दृष्टि दूसरों के सुख और आनंद में अपना सुख और आनंद खोजने का सबक़ सिखाती है। ऐसे रास्ते पर चलने से मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष तथा अनावश्यक महत्वाकांक्षाओं से बचा रहा है। परिणामतः उसके आंतरिक और बाह्य जीवन में कटुता, स्पर्धा और शत्रुता के लिए कोई जगह नहीं होती। ऐसी उदात्त जीवन दृष्टि ही विश्वमानववाद और वसुधैव कुटुम्बकम जैसी महत्वपूर्ण परिकल्पनाएं प्रस्तुत कर सकती है।

जयशंकर प्रसाद परंपरावादी नहीं हैं। वे परंपरा और रूढ़ि में अंतर करना जानते हैं। वे वर्तमान की नजर से परम्परा का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हैं और रूढ़ियों का प्रत्याख्यान करने से घबराते नहीं हैं। उनकी रचनाओं में रूढ़ियों के खंडन के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए उनके नाटक अजातशत्रु के एक प्रसंग को देखते हैं। कोशल नरेश प्रसेनजीत दासी का पुत्र होने के कारण विरुद्धक को अपने सिंहासन का उत्तराधिकारी नहीं बनाना चाहते जबकि विरुद्धक राजा का इकलौता पुत्र होने के नाते अपने को राज सिंहासन का स्वाभाविक उत्तराधिकारी समझता है। राजा प्रसेनजीत और विरुद्धक के आपसी रस्साकशी के कारण राजा का कुटुंब कलह, षड्यंत्र और विद्रोह का शिकार बन जाता है। पारिवारिक सौहार्द्र को बनाए रखने में बाधक बन चुके राजा की रूढ़िवादी सोच का विरोध करते हुए गौतम कहते हैं : "यह दंभ तुम्हारा प्राचीन संस्कार है। क्यों राजन, क्या दास, दासी, मनुष्य नहीं हैं ? क्या कई पीढ़ी ऊपर तक तुम प्रमाण दे सकते हो कि सभी राजकुमारियों की ही सन्तान इस सिंहासन पर बैठी हैं, या प्रतिज्ञा करोगे कि कई पीढ़ी आने वाली तक दासी-पुत्र इस पर न बैठने पावेंगे ? यह छोटे-बड़े का भेद क्या अभी इस संकीर्ण हृदय में इस तरह घुसा है कि निकल नहीं सकता ? क्या जीवन की वर्तमान स्थिति देखकर प्राचीन अंधविश्वासों को, जो न जाने किस कारण होते आए हैं, तुम बदलने के लिए प्रस्तुत नहीं हो ? क्या इस क्षणिक भव में तुम अपनी स्वतंत्र सत्ता अनंत काल तक बनाये रखोगे ? और भी, क्या उस आर्य-पद्धति को तुम भूल गए कि पिता से पुत्र की गणना होती है ? राजन, सावधान हो, इस अपनी सुयोग्य शक्ति को स्वयं कुंठित न बनाओ।" (मिश्र, 2010, ग्रंथावली-1, पृ. 277) इस उद्धरण में 'क्या जीवन की वर्तमान स्थिति देखकर प्राचीन अंधविश्वासों को, जो न जाने किस कारण होते आए हैं, तुम बदलने के लिए प्रस्तुत नहीं हो ?' जैसा वाक्य इस बात का प्रमाण है कि जयशंकर प्रसाद आँख बंद करके परंपरा का अनुसरण नहीं करते बल्कि वर्तमान की चुनौती के अनुरूप वे परंपरा में परिवर्तन करने पक्षधर हैं। परंपरा के वे तत्व जो हमारे वर्तमान के लिए उपयोगी हैं और हमारी प्रगति में सहायक हैं वे ही संग्रह करने के योग्य हैं और परंपरा के जो तत्व प्रगति के मार्ग पर हमारे पैरों की बेड़ी बन गए हैं वे त्याग देने के योग्य हैं—'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'। संग्रह और त्याग के विवेक से संपन्न ऐसे मनीषी ही ज्ञान परंपरा के विकास में सहायक बनते हैं। वर्तमान के आलोक में परंपरा का मूल्यांकन करते हैं और उसे नित नवीन बनाये रखने का जतन करते हैं। जिस ज्ञान परंपरा को ऐसे मनीषी नहीं मिलते हैं वे लुप्त हो जाने को अभिशप्त होती हैं। आधुनिक युग में जयशंकर प्रसाद ऐसे ही बौद्धिक तपस्वी के रूप में हमारे सामने

आते हैं। इस प्रसंग में उनके महत्व को स्वीकार करते हुए रमेशचंद्र शाह भी लिखते हैं : "आयरिश कवि येट्स ने जिसे 'भारतीय ज्ञान परंपरा (और अनुभव परंपरा) की बुझती हुई जोत' कहा था — प्रसाद जी के भीतर इसकी तीखी चेतना मौजूद थी और उसके साथ ही साथ उसे जलाए रखने की चिंता और विवेक-पीड़ा भी। उनके कृतित्व से गुज़रते हुए हमें ऐसा अनुभव होता है जैसे उनका तुमुल कोलाहल-भरा विक्षुब्ध हृदय उनके संवाद-खोजी, संतुलन-शोधक विवेक का निमंत्रण बराबर स्वीकार करता चलता है। यह भी कि यह संवाद-संतुलन, यह व्यवस्था उनके लिए अपनी परंपरा की सर्वोत्कृष्ट विरासत के मेल में ही हो सकती थी। उन्होंने आजीवन इस सांस्कृतिक आँख को पाने के लिए तप किया। यह तप कठिन है और ज़रूरी भी — कठिन इसलिए कि यह उस आदमी का तप है जो उसी संस्कृति और उसी परंपरा के एक बहुत बड़े अंश के प्रति घोरतम शंका और मूलतः विद्रोह का स्वर मुखरित करता आया है, और ज़रूरी इसलिए, कि वह ऐसे युग में संभव बनाया गया है जब हमारी संवेदना और हमारी संस्कृति के बीच के अधिकांश सेतु (और सबसे मज़बूत सेतु) भरभरा चुके हैं। और इस तथ्य को तो कोई भी ईमानदार विश्लेषक झुठला ही नहीं सकता कि हमारे बहुत कम लेखकों में उस तरह का 'ट्रैजिक सेंस' दिखता है जैसा कि प्रसाद के यहाँ हमें (उनके बावजूद भी) मिलता है।" (शाह, 1979, पृ. 91) वर्तमान की चुनौतियों के अनुरूप अपनी परंपरा में परिवर्तन करना देशज आधुनिकता का लक्षण है जबकि वर्तमान की चुनौतियों के सम्मुख अपनी परंपरा का तिरस्कार करना औपनिवेशिक आधुनिकता का लक्षण है। जिस सांस्कृतिक आँख को प्राप्त करने के लिए प्रसाद ने आजीवन तप किया था वही सांस्कृतिक आँख उनको औपनिवेशिक आधुनिकता का शिकार होने से बचा लेती है।

निष्कर्ष

भारतीय इतिहास के औपनिवेशिक दौर में जयशंकर प्रसाद उपनिवेशवाद का विरोध करने के लिए और भारत में राष्ट्रीय चेतना विकसित करने के लिए अतीत का सहारा लेते हैं। अतीत के प्रसंगों और नायकों के माध्यम से वे तत्कालीन भारतीयों की पराजित और जबदी हुई मनोवृत्ति में जोश और उमंग का संचार करना चाहते हैं। वे पूर्वजों की कहानियों के माध्यम से ही वर्तमान के नायकों को उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए प्रेरित करते हैं। उनकी चिंतनशील प्रवृत्ति भारतीयों को राजनीतिक संघर्ष करने के लिए प्रेरित करने तक ही सीमित नहीं रहती है बल्कि उपनिवेशवाद की वैचारिकी को चुनौती देने का जतन करती है। आधुनिकता में निहित पश्चिमीकरण का प्रत्याख्यान करते हुए वे आधुनिकता और भारतीय परंपरा के बीच की खाई को पाटने का जतन करते हैं। उनका लक्ष्य भारतीय परंपरा के मूल्यवान तत्वों के माध्यम से आधुनिक जीवन की दुश्वारियों और चुनौतियों का समाधान करना है। वे भारतीय जीवन दृष्टि का उपयोग भारत में राष्ट्रीय चेतना विकसित करने के साथ-साथ मानव मात्र के भविष्य को सुखमय और आनंदमय बनाने के लिए करना चाहते हैं। उनके इस प्रयास से, बाई प्रोडक्ट के रूप में ही सही, भारतीय आधुनिकता का मार्ग प्रशस्त होता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. नंदी, आशिस. (2019) जिगरी दुश्मन उपनिवेशवाद के साये में आत्मक्षय और आत्मोद्धार (अनु. अभय कुमार दुबे), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली. ISBN: 978-93-88684-37-8
2. प्रसाद, जयशंकर. (1956) अजातशत्रु, भारती-भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद.
3. प्रेमशंकर. (1994) प्रसाद का काव्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली. ISBN: 81-7119-133-9
4. मिश्र, सत्यप्रकाश (सं). (2010) जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली (खंड एक), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद. ISBN: 978-81-8031-544-2
5. मिश्र, सत्यप्रकाश (सं). (2010) जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली (खंड चार), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद. ISBN: 978-81-8031-544-2
6. मिश्र, सत्यप्रकाश (सं). (2002) लहर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
7. शाह, रमेशचंद्र. (1979) जयशंकर प्रसाद, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली. ISBN : 81-260-0422-3